आत्म प्रबोध संहिता

आत्म प्रबोध संहिता

प्रकाशक : **निरंजन बुक् ट्रष्ट**
प्रथम मुद्रण : बुद्ध पुर्णिमा, २००९
मुद्रण एवं अलंकरण : **दिव्य मुद्रणी,**
भुवनेश्वर – २ (उड़िसा)
मूल्य : **रु** 5/-

जो मोक्ष है तू चाहता,विष सम विषय त्यज तात रे ।
आर्जव क्षमा सन्तोष शम दम, पी सुधा दिन रात रे ।
संसार जलती आग है , इस आग से झट भाग कर ।
आ शान्त शीतल देश में, होजा अजर होजा अमर ।

पृथवी नहीं जल भी नहीं,नहीं अग्नि तू नहीं है पवन ।
आकाश भी तू है नहीं , तू नित्य है चैतन्य घन ।
इन पांचों का साक्षी सदा, निर्लेप है तू सर्वपर ।
निज रूप को पहिचान कर, होजा अजर होजा अमर ।

चैतन्य को कर भिन्न तन से,शान्ति सम्यक् पाएगा ।
होगा तुरत ही तू सुखी, संसार से छुट जाएगा ।
आश्रम तथा वर्णादिका , किञ्चित् न तू अभिमान कर ।
सम्बन्ध त्यजदे देह से, होजा अजर होजा अमर ।

नहीं धर्म है न अधर्म तुझमें,दुःख सुख भी लेश ना ।
है यह सभी अज्ञान में, कर्तापना भोक्तापना ।
तू एक द्रष्टा सर्व का, इस दृश्य से है दूर कर ।
पहिचान अपने आपको, होजा अजर होजा अमर ।

कर्तृत्व के अभिमान काले,सर्प से है तू डसा ।
नहीं जानता है आप को, भव पाश में है तू फंसा ।
कर्ता न तू तीन काल में, श्रद्धा सुधा का पान कर ।
पीकर इसे हो जा सुखी, होजा अजर होजा अमर ।

मैं शुद्ध हूँ मैं बुद्ध हूँ , ज्ञानाग्नी ऐसी ले जला ।
मत पाप मत संताप कर, अज्ञान बन को दे जला ।
ज्यों सर्प रस्सी माही जिसमें, भासता ब्रह्माण्ड भर ।
सो बोध सुख तू आप है, होजा अजर होजा अमर ।

अभिमान रखता मुक्ति का, सो धीर निश्चय मुक्त है ।
अभिमान करता बन्धका, सो मूढ़ बन्धन युक्त है ।
जैसी मति तैसी गति, लोकोक्ति यह सच मान कर ।
भव बन्ध से निर्मुक्त हो, होजा अजर होजा अमर ।

आत्मा अमल साक्षी अचल,विभु पूर्ण शाश्वत मुक्त है ।
चेतन असंगी निष्पृही, शुची शान्त अच्युत तृप्त है ।
निज रूप के अज्ञान से,जन्मा करे फिर जाए मर ।
भोला स्वयं को जान कर, होजा अजर होजा अमर ।

कुटस्थ हूँ अद्वैत हूँ , मैं बोध हूँ मैं नित्य हूँ।
अक्षय तथा निःसंग आत्मा , एक शाश्वत सत्य हूँ ।
नहीं देह हूँ नहीं इन्द्रियाँ, हूँ स्वच्छ से भी स्वच्छतर ।
ऐसी किया कर भावना, नि:शोक हो सुख से विचर ।

मैं कर्ता भोक्ता जीव हूँ, इस पाप से जकड़ा गया ।
चिर काल तक फिरता रहा, जन्मा किया फिर मरगया ।
मैं बोध हूँ ज्ञानास्त्र ले,अज्ञान का दे काट सर ।
स्वच्छन्द हो निर्द्वन्द्व हो, आनन्द कर सुख से विचर ।

निष्क्रिय सदा निसंग तू,कर्ता नहीं भोक्ता नहीं ।
निर्भय निरंजन है अचल , आता नहीं जाता नहीं ।
मत राग कर मत द्वैष कर, चिन्ता रहित होजा निडर ।
आशा किसीकी क्यों करे, संतृप्त हो सुख से विचर ।

यह विश्व तुझसे व्याप्त है, तू विश्वमें भरपूर है ।
अणु तूही विभू तूही, तू पास है तू दूर है ।
उत्तर तुही दक्षिण तुही,तू है इधर तू है उधर ।
दे त्याग मन की क्षुद्रता, नि:शंक हो सुख से विचर ।

निरपेक्ष द्रष्टा सर्व का,इस दृश्य से तू अन्य है ।
अक्षुप्त है चिन्मात्र है , सुख सिन्धु पूर्ण अनन्य है ।
छह उर्मियों से है रहित,मरता नहीं तू है अमर ।
ऐसी किया कर भावना, निर्भय सदा सुख से विचर ।

आकार मिथ्या जाल सब,आकार बिन तू है अचल ।
जीवन मरण है कल्पना , तू एकरस निर्मल अटल ।
ज्यों जेवरी में सर्प त्यों अध्यस्त तुझमें चर अचर ।
ऐसी किया कर भावना, निश्चिन्त हो सुख से विचर ।

दर्पण धरे जब सामने,तब ग्राम उसमे भासता ।
दर्पण हटाते क्षण ही , तब ग्राम होता लापता ।
ज्युँ ग्राम दर्पण माही, विश्व त्युँ तुझमें आता नजर ।
संसार को मत देख निज को, देख तू सुख से विचर ।

आकाश घट के बाह्य है,आकाश घट भीतर बसा ।
सब विश्व में है पूर्ण तूही , बाह्य भीतर एक सा ।
श्रुति संत गुरु के वाक्य यह, सच मानरे विश्वास कर ।
भोला निकल जग जालसे, निर्बन्ध हो सुख से विचर ।

स्वात्मानुभूति

छूता नहीं मैं देह फिरभी ,देह तीनों धारता ।
रचना करूँ मैं विश्व की , नहीं विश्व से कुछ वासता ।
कर्तार हूँ मैं सर्व का, यह सर्व मेरा कार्य है ।
फिरभी न मुझमें सर्व है, आश्चर्य है आश्चर्य है ।

नहीं ज्ञान ज्ञाता ज्ञेय में से,एक भी है वास्तविक ।
मैं एक केवल सत्य हूँ, ज्ञानादि तीनों काल्पनिक ।
अज्ञान से जिस माही भासे,ज्ञान ज्ञाता ज्ञेय है ।
सो मैं निरंजन देव हूँ, आश्चर्य है आश्चर्य है ।

है दुःख सारा द्वैत में, कोई नहीं उसकी दवा ।
यह दृश्य सारा है मृषा, फिर द्वैत कैसा वाहवा ।
चिन्मात्र हूँ मैं एकरस, मम कल्पना यह दृश्य है ।
मैं कल्पना से बाह्य हूँ,आश्चर्य है आश्चर्य है ।

नहीं बन्ध है नहीं मोक्ष है,मुझमें न किञ्चित् भ्रान्ति है ।
माया नहीं काया नहीं ,परिपूर्ण अक्षय शान्ति है ।
मम कल्पना है शिष्य, अरू कल्पना आचार्य है ।
साक्षी स्वयं हूँ सिद्ध मैं,आश्चर्य है आश्चर्य है ।

सशरीर सारे विश्व की, किञ्चित् नहीं सम्भावना ।
शुद्धात्म मुझ चिन्मात्र में, बनती नहीं है कल्पना ।
तीन काल तीनों लोक, चौदह भुवन माया कार्य है ।
चिन्मात्र मैं नि:संग हूँ ,आश्चर्य है आश्चर्य है ।

रहता जनों में द्वैत का, फिरभी न मुझमें नाम है ।
दंगल मुझे जंगल दिखे, फिर प्रीति का क्या काम है ।
मैं देह हूँ जो मानता ,सो प्रीति कर दुःख पाए है ।
चिन्मात्र में भी संग हो,आश्चर्य है आश्चर्य है ।

नहीं देह मैं नहीं जीव मैं, चैतन्यघन मैं शुद्ध हूँ ।
बन्धन यही मुझ माही था, कि चाह में जीता रहूँ ।
ब्रह्माण्ड रूपी लहरीयां, उठ उठ विलय हो जाय है ।
परिपूर्ण मुझ सुख सिन्धु में,आश्चर्य है आश्चर्य है ।

निःसंग मुझ चित सिन्धु में,जब मन पवन होजाय लय ।
व्यापार लय हो जीव का , जग नाव भी हो वे विलय ।
इस भाति से करके मनन , नर प्राज्ञ चुप हो जाय है ।
भोला न अब तक चुप हुआ,आश्चर्य है आश्चर्य है ।

मैं हूँ निरंजन शान्त निर्मल,बोध माया से परे ।
हूँ काल का भी काल मैं, मन बुद्धि काया से परे ।
मैं तत्व अपना भूलकर, व्यामोह में आ पड़ गया ।
श्रुति संत गुरु ईश्वर कृपा,सब बन्धनों से मुक्त भया ।

जैसे प्रकाशु देह मैं,त्यों ही प्रकाशु विश्व सब ।
इसलीए मैं विश्व सब, अथवा नहीं हूँ विश्व अब ।
सशरीर सारे विश्व का है, त्याग मैंने कर दिया ।
सब ठौर मैं ही दीखता हूँ, ब्रह्म केवल नित नया ।

जैसे तरंगे फेन बुदबुद, सिन्धु से नहीं भिन्न कुछ ।
मुझ आत्म से उत्पन्न जग , मुझ में नहीं है अन्य कुछ ।
ज्यों तन्तुओं से भिन्न पटकी, है नहीं सत्ता कहीं ।
मुझ आत्म से इस विश्व की, त्यों भिन्न सत्ता है नहीं ।

ज्यों ईख के रस माही शक्कर,व्याप्त होकर पूर्ण है ।
आनन्द घन मुझ आत्म से, सब विश्व त्यों परिपूर्ण है ।
अज्ञान से जो रज्जु अही हो, ज्ञान से हट जाए है ।
अज्ञान निज से जग बना,निज ज्ञान से मिट जाए है ।

नाम रूप विश्व चराचर, माया का ही सब रूप है ।
अस्ति भाति प्रिय ब्रह्म ही, सच्चिदानन्द स्वरूप है ।
ज्यों सीप में चांदी मृषा, मरुभूमि में पानी यथा ।
अज्ञान से कल्पा हुआ,यह विश्व मुझमें है तथा ।

ज्यों मृत्तिका से घट बने,फिर मृत्तिका में होय लय ।
उठती यथा जल से तरंगे , होय फिर जल में विलय ।
कंकण कटक बनते कनक से, लय कनक में हो यथा ।
मुझसे निकल कर विश्व यह,मुझ माही लय होता तथा ।

ज्यों सींप की चांदी लुभाती,सींप के जाने बिना ।
त्यों ही विषय सुखकर लगे हैं, आत्म पहचाने बिना ।
अज अमर आत्मा ज्ञान कर, जो आत्म में तल्लिन हो ।
सब रस विरस लगते उसे,कैसे भला फिर दीन हो ।

सुन्दर परम आनन्दघन, निज आत्म को नहीं जानता ।
आसक्त हो कर भोग में, सो मूढ़ हो सुख मांगता ।
ज्यों सिन्धु में से लहर जिसमें, विश्व उपजे लीन हो ।
मैं हूँ वही जो मानता, कैसे भला फिर दीन हो ।

सब प्राणिओं में आपको, सब प्राणिओं को आप में ।
जो प्राज्ञ मुनि है जानता, कैसे फंसे फिर पाप में ।
अक्षय सुधा के पान में, जिस संत का मन लीन हो ।
क्यों कामवश सो हो, विकल कैसे भला फिर दीन हो ।

है काम बैरी ज्ञान का,बलवान के बल को हरे ।
नर धीर ऐसा जान कर, क्यों भोग की इच्छा करे ।
जो आज है कल ना रहे, प्रत्येक क्षण ही क्षीण हो ।
ऐसे विनश्वर भोग में, कैसे भला फिर दीन हो ।

तत्त्वज्ञ विषय न भोगता, न खेद मन में मानता ।
निज आत्म केवल देखता, सुख दुःख सम है जानता ।
करता हुआ भी नहीं करे, सशरीर भी तन हीन हो ।
निंदा प्रशंसा सम जिसे, कैसे भला फिर दीन हो ।

सब विश्व माया मात्र है, ऐसा जिसे विश्वास है ।
सो मृत्यु सम्मुख देखकर, लाता न मन में त्रास है ।
नहीं आश जीने की जिसे हो, त्राश मरने की न हो ।
हो तृप्त अपने आप में, कैसे भला फिर दीन हो ।

नहीं ग्राह्य कुछ नहीं त्याज्य कुछ, अच्छा बुरा नहीं है कहीं ।
यह विश्व है सब कल्पना , बनता बिगड़ता कुछ नहीं ।
ऐसा जिसे निश्चय हुआ , क्यों अन्य के स्वाधीन हो ।
संतुष्ट नर निर्द्वन्द्व सो, कैसे भला फिर दीन हो ।

श्रुति संत सब ही कह रहे,ब्रह्मादि गुरु सिखलारहे ।
श्रीकृष्ण भी बतलारहे, शुकादि मुनि दिखलारहे ।
सुख सिन्धु अपने पास है,सुख सिन्धु जल की मीन हो ।
भोला लगा डुबकी सदा,मत हो दुःखी मत दीन हो ।

संसार कल्पित मानता, नहीं भोग में अनुरागता ।
सम्पत्ति पा नहीं हर्षता, आपत्ति से नहीं भागता ।
निज आत्म में संतृप्त है, नहीं देह का अभिमान है ।
ऐसे विवेकी के लिये, सब हानि लाभ समान है ।

संसार वाही बैल सम, दिन रात बोझा ढोय है ।
त्यागी तमाशा देखता, सुखसे जगे है सोय है ।
सम चित्त है स्थिर बुद्धि, केवल आत्म अनुसंधान है ।
तत्त्वज्ञ ऐसे धीर को, सब हानि लाभ समान है ।

इन्द्रादि जिस पद के लिए, करते सदा ही चाहना ।
उस आत्मपद को पाय के, योगी हुआ र्निवासना ।
है शोक कारण राग का, अरु राग का अज्ञान है ।
अज्ञान जब जाता रहा, सब हानि लाभ समान है ।

आकाश से ज्यों धूम का, सम्बन्ध होता है नहीं ।
ज्यों पुण्य अथवा पाप को, तत्त्वज्ञ छूता है नहीं ।
आकाश सम निर्लेप जो ,चैतन्य घन प्रज्ञान है ।
ऐसे असंगी प्राज्ञ को,सब हानि लाभ समान है ।

यह विश्व सब है आत्म ही , इस भाति से जो जानता ।
यह शरीर उसका द्वार है,प्रारब्ध वश वह वर्तता ।
ऐसे विवेकी संत को, न निषेध है न विधान है ।
सुख दुःख दोनों एक से सब हानि लाभ समान है ।

सुर नर असुर पशु आदि जितने, जीव है संसार में ।
इच्छा अनिच्छा वश हुए, सब लिप्त है व्यवहार में ।
इच्छा अनिच्छा से छूटा, बस एक संत सुजान है ।
उस संत निर्मल चित्त को, सब हानि लाभ समान है ।

विश्वेष अद्वय आत्मा को,विरला जगत में जानता ।
जगदीश को जो जानता,नहीं भय किसी से मानता ।
ब्रह्माण्ड भर को प्यार करता,विश्व जिसका प्राण है ।
उस विश्व प्यारे के लिए,सब हानि लाभ समान है ।

कोई न उसका शत्रु है, कोई न उसका मित्र है ।
कल्याण सब का चाहता है, ऐसा पुरुष महान है ।
सब देश उसको एकसे, वस्ती भले शुनशान है ।
भोला उसे फिर भय कहाँ, सब हानि लाभ समान है ।

जहाँ विश्व लय हो जाय तहाँ, ब्रह्म भेद सब बह जाय है ।
अद्वय स्वयं ही सिद्ध केवल एक ही रह जाय है ।
सो ब्रह्म है तू है वही, पुतली नहीं तू मांस की ।
नहीं वीर्य तू नहीं रक्त तू , नहीं धौकनी तू श्वाँस की ।

जहाँ हो अहंता लीन तहाँ, रहता नहीं जीवत्व है ।
अक्षय निरामय शुद्ध सम्वित्,शेष रहता तत्त्व है ।
सो ब्रह्म है तू है वही, पुतली नहीं तू मांस की ।
नहीं जन्म तुझमें नहीं मरण, नहीं खोल है आकाश की ।

दिक्काल जहं नहीं भासते, होता जहां नहीं शून्य है ।
सच्चित तथा आनंद आत्मा भासता परीपूर्ण है।
सो ब्रह्म है तू है वही,पुतली नहीं तू मांस की ।
नहीं त्याग तुझमें नहीं ग्रहण, नहीं गांठ तुझमें अभ्यास की ।

चेष्टा नहीं जड़ता नहीं, नहीं आवरण नहीं दम्भ जहां ।
अव्यय अखण्डित ज्योति शाश्वत जगमगाती सम जहां ।
सो ब्रह्म है तू है वही, पुतली नहीं तू मांस की ।
कैसे तुझे फिर बन्ध हो, नहीं मूर्ति तू आभास की ।

जो सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है, नहीं व्योम पंचक है जहां ।
पर से परे ध्रुव शान्त शिव ही,नित्य भासे है वहां ।
सो ब्रह्म है तू है वही,पुतली नहीं तू मांस की ।
गुण तीन से तू है परे, चिन्ता तुझे क्या नाश की ।

जो ज्योतियों की ज्योति है, सबसे प्रथम जो भासता ।
अक्षर सनातन दिव्य् दीपक, सर्व विश्व प्रकाशता ।
सो ब्रह्म है तू है वही, पुतली नहीं तू मांस की ।
तुझको प्रकाशे कौन तू, है दिव्य मूर्ति प्रकाश की ।

शंका जहां उठती नहीं, किञ्चित् जहां न विकार है ।
आनन्द अक्षय से भरा,नित ही नया भण्डार है ।
सो ब्रह्म है तू है वही, पुतली नहीं तू मांस की ।
फिर शोक तुझमें है कहां, यह वृत्ति है आकाश की ।

जिस तत्त्व को कर प्राप्त परदा, मोह का हट जाए है ।
जल जाए है संचित सभी, गुरु ज्ञान मिल जाए है ।
सो ब्रह्म है तू है वही,पुतली नहीं तू मांस की ।
नाता सभी से तोड़के, काट दे भव पाश की ।

माया रचित यह देह है,माया रचित ही गेह है ।
आसक्ति फांसी है कड़ी, मजबूत रस्सी स्नेह है ।
संसार है सब द्वैत में, मत द्वैत पर तू ध्यान धर ।
सर्वत्र आत्मा देख तू,सर्वात्म अनुसंधान कर ।

माया महा है मोहनी, बन्धन अमंगल कारीणी ।
व्यामोह कारीणी शोकदा, आनंद मंगल कारीणी ।
मायामरी को मार दे, मत देह में अभिमान कर ।
दे भेद मन से मेट सब, सर्वात्म अनुसंधान कर ।

जो ब्रह्म सबमें देखते हैं, ध्यान धरते ब्रह्म का ।
भव जाल से है छूटते,साक्षात् करे है ब्रह्म का ।
नर मूढ़ पाता क्लेश है,अपना पराया मान कर ।
ममता अहंता त्याग दे, सर्वात्म अनुसंधान कर ।

वैरी भयंकर है विषय, कीड़ा न बन तू भोग का ।
चंचलपना मन का मिटा, अभ्यास करके योग का ।
यह चित्त होता मुक्त है, अपने आत्म को जान कर ।
कर दरस सबमें ब्रह्म का, सर्वात्म अनुसंधान कर ।

जब नाश होता चित्त का, योगी महाफल पाए है ।
जो पूर्ण शशी है शोभता,सब विश्व में भरजाए है ।
चिन्मात्र सम्वित् शुद्ध जल में,नित्य ही तू स्नान कर ।
मन मैल सारा डाल धो,सर्वात्म अनुसंधान कर ।

जो दिखता होता स्मरण,जो कुछ श्रवण में आए है ।
मिथ्या नदी मरुभूमि की है,मूढ धोखा खाए है ।
धोखा न खा सुखपूर्ण आत्मा, सिन्धु का जल पान कर ।
प्यासा न मर पीयूष पी, सर्वात्म अनुसंधान कर ।

अपरोक्ष यद्यपि दीखता, नहीं वस्तुत: संसार है ।
तुझ शुद्ध निर्मल तत्त्व में, सम्भव न कुछ व्यापार है ।
जो सर्प रस्सी का बना,फिर रज्जु में ही लीन हो ।
सब विश्व लय कर आपमें,बस आप में लवलीन हो ।

सुख दुःख दोनों जान सम, आशा निराशा एक सी ।
जीवन मरण भी एकसा, निन्दा प्रशंसा एक सी ।
हर हाल में खुश हाल रहे, निर्द्वन्द्व चिन्ता हीन हो ।
मत ध्यान कर तू अन्य का,बस आप में लवलीन हो ।

भूमा अचल शाश्वत अमल, सम ठोस है तू सर्वदा ।
यह देह है पोला घड़ा, बनता बिगड़ता है सदा ।
निर्लेप रह जल विश्व में, मत विश्व जल की मीन हो ।
आसक्त न हो देह में, बस आप में लवलीन हो ।

यह विश्व लहरों के सदृश, तू सिन्धु जो गम्भीर है ।
बनते बिगड़ते विश्व है, तू नित्य निश्चल ही रहे ।
मत विश्व से सम्बन्ध रख, मत भोग के आधीन हो ।
नित आत्म अनुसन्धान कर, बस आप में लवलीन हो ।

तू सीप सच्ची वस्तु है, यह विश्व चांदि है मृषा ।
तू वस्तु सच्ची रज्जु है, यह विश्व अहिनी है मृषा ।
इसमें नहीं संन्देह कुछ, प्यारे न श्रद्धा हीन हो ।
विश्वास कर विश्वास कर, बस आप में लवलीन हो ।

सब भूत तेरे माही है, तू सर्व भूतों माही है ।
तू सूत्र सबमें पूर्ण है, तेरे सिवा कुछ नाहीं है ।
यदि हो न सत्ता एक तो, फिर चर अचर कुछ भी न हो ।
भोला यही सिद्धान्त है, बस आप में लवलीन हो ।

अक्षुब्ध मुझ अम्बोधी में, यह विश्व नावे चल रहीं ।
मन वायु की प्रेरी हुई, मुझ सिन्धु में हलचल नहीं ।
मन वायु से मैं हूँ परे, हिलता नहीं मन वायु से ।
कुटस्थ हूँ मैं एकरस, छोड़ूँ किसे पकड़ूँ किसे ।

असीम मुझ सुख सिन्धु में, जग वीचियाँ उठती रहें ।
बढ़ती रहें घटती रहें, बनती रहें मिटती रहें ।
अव्यय रहीत उत्पत्ति से हूँ, वृत्ति से अरु अस्त से ।
निश्चल सदा ही एक सा, छोड़ूँ किसे पकड़ूँ किसे ।

अध्यक्ष हूँ मैं विश्व का, यह विश्व मुझ में कल्पना ।
कल्पे हुए से सत्य को, होती कभी कुछ हानी ना ।
अतः शान्ति बिन आकार हूँ, पर रूप से पर नाम से ।
अद्वय अनामय तत्त्व मैं, छोड़ूँ किसे पकड़ूँ किसे ।

देहादि नहीं है आत्म में, नहीं आत्म है देहादि में ।
आत्मा निरंजन एक सा है, अन्त में क्या आदि में ।
निःसंग, अच्युत निस्पृही, अति दूर सर्वोपाधि से ।
सो आत्म अपना आप है, छोड़ूँ किसे पकड़ूँ किसे ।

चिनमात्र मैं ही सत्य हूँ, यह विश्व बन्ध्या पुत्र है ।
नहीं बांझ सुत जनती कभी, तब विश्व माया मात्र है ।
जब विश्व कुछ है ही नहीं, सम्बन्ध क्या फिर विश्व से ।
सम्बन्ध नहीं है जब कहीं, छोड़ूँ किसे पकड़ूँ किसे ।

नहीं देह मैं नहीं इन्द्रियाँ, मन भी नहीं नहीं प्राण हूँ ।
नहीं चित्त हूँ नहीं बुद्धि हूँ, नहीं जीव नहीं विज्ञान हूँ ।
कर्त्ता नहीं भोक्ता नहीं, निर्मुक्त हूँ मैं कर्म से ।
निरुपाधि संवित् शुद्ध हूँ, छोड़ूँ किसे पकड़ूँ किसे ।

है देह मुझ में दिखता, पर देह मुझमें है नहीं ।
द्रष्टा कभी इस द्रश्य से, एक हो सकता नहीं ।
नहीं त्याज्य हूँ नहीं ग्राह्य हूँ, पर हूँ ग्रहण से त्याग से ।
अक्षर परम आनन्दघन, छोड़ूँ किसे पकड़ूँ किसे ।

अज्ञान में रहते सभी, कर्ता पना भोक्ता पना ।
चिद्रूप मुझ में लेश भी, सम्भव नहीं है कल्पना ।
यूँ स्वात्म अनुसन्धान कर, छूटे चतुर भव बन्ध से ।
भोला न अब संकोच कर, छोड़ूँ किसे पकड़ूँ किसे ।

मैं–तू नहीं पहचानना, विषयी विषय नहीं जानना ।
आत्मा अनात्मा मानना, निज अन्य नहीं पहचानना ।
चेतन अचेतन जानना, अति पाप माना जाय है ।
संताप यह भी देह है, बन्धन यही कहलाय है ।

क्या ईश है, क्या जीव है, यह विश्व कैसे बन गया ।
पावन परम निसंग आत्मा, संग में क्यों सन गया ।
सुख सिन्धु आत्मा एक रस, सो दुःख कैसे पाय है ।
कारण ना इसका जानना, बन्धन यही कहलाय है ।

इस देह को मैं मानना, या इन्द्रियां मैं जानना ।
अभिमान करना चित्त मैं, या बुद्धि मैं पहचानना ।
देहादि के अभिमान से, नर मूढ़ दुःख उठाय है ।
बहु योनियों में जन्मता, बन्धन यही कहलाय है ।

बड़ी कठीन है कामना, आसक्ति दृढ़तम जाल है ।
ममता भयंकर राक्षसी, जीव का यह काल है ।
इन शत्रुओं के वश हुआ, जन्में मरे पछताये है ।
सुख से कभी सोता नहीं, बन्धन यही कहलाय है ।

यह है भला यह है बुरा, यह पुण्य है यह पाप है ।
यह लाभ है यह हानि है, यह शीत है यह ताप है ।
यह ग्राह्य है यह त्याज्य है, यह आय है यह जाय है ।
इस भाँति मन की कल्पना, बन्धन यही कहलाय है ।

श्रोत्रादि को मैं मान नर, शब्दादि में फंस जाय है ।
अनुकूल में सुख मानता, प्रतिकूल से दुःख पाय है ।
पाकर विषय है हर्षता, नहीं पाय तब घबराय है ।
आसक्त होना भोग में, बन्धन यही कहलाय है ।

सतसंग में जाता नहीं, नहीं वेद आज्ञा मानता ।
सुनता नहीं हितोपदेश, अपनी तान उलटी तानता ।
शिष्टाचरण करता नहीं, दुष्टाचरण ही भाय है ।
कहते इसे है मूढ़ता, बन्धन यही कहलाय है ।

यह चित्त जब तक चाहता, या विश्व में है दौड़ता ।
करता है किसी को है ग्रहण, अथवा किसी को छोड़ता ।
सुख पाय के है हर्षता, दुःख देख कर संकुचाय है ।
भोला तू छोड़ अहं ममको, बन्धन यही कहलाय है ।

ममता नहीं सूत दार में, नहीं देह में अभिमान है ।
निंदा प्रशंसा एकसी, सम मान अरु अपमान है ।
जो भोग आते भोगता, होता न विषयासक्त है ।
निर्वासना निर्द्वन्द्व सो, इच्छा बिना ही मुक्त है ।

सब विश्व अपना जानता, या कुछ ना अपना मानता ।
क्या मित्र हो क्या शत्रु सब को, एक सम सन्मानता ।
सब विश्व का है भक्त जो, सब विश्व जिसका भक्त है ।
निर्हेतु सबका सुहृद सो, इच्छा बिना ही मुक्त है ।

रहता सभी के संग पर, करता न किंचित् संग है ।
है रंग पक्के में रंगा, चढ़ता न कच्चा रंग है ।
है आप में संलग्न अपने, आप में अनुरक्त है ।
है आप में सन्तुष्ट सो, इच्छा बिना ही मुक्त है ।

सुन्दर कथाएँ जानता, देता घने द्रष्टान्त है।
देता दिखाई भ्रान्त सा, भीतर परम ही शान्त है ।
नहीं राग है नहीं द्वेष है, सब दोष से निर्मुक्त है ।
करता सभी को प्यार सो, इच्छा बिना ही मुक्त है ।

नहीं दुःख से घबराय है, सुख की जिसे नहीं चाह है ।
सन्मार्ग में विचरे सदा, चलता न खोटि राह है ।
पावन परम अन्तःकरण, गम्भीर धीर विरक्त है ।
शम दम क्षमा से युक्त हो, इच्छा बिना ही मुक्त है ।

जीवन जिसे रुचता नहीं, नहीं मृत्यु से घबराय है ।
जीवन मरण है कल्पना, अपना न कुछ भी जाय है ।
अक्षय अजर शाश्वत अमर, निज आत्म में सन्तृप्त है ।
ऐसा विवेकी प्राज्ञ नर, इच्छा बिना ही मुक्त है ।

माया नहीं काया नहीं, बन्ध्या रचा यह विश्व है ।
नहीं नाम ही नहीं रूप ही, केवल निरामय तत्त्व है ।
यह ईश है यह जीव माया, माही सब सन्तृप्त है ।
ऐसा जिसे निश्चय हुआ, इच्छा बिना ही मुक्त है ।

कर्त्तव्य था सो कर लिया, करना न कुछ भी शेष है ।
था प्राप्त करना पा लिया, पाना न अब कुछ लेश है ।
जो जानना था जानकर, स्व–स्वरूप में संयुक्त है ।
भोला नहीं संन्देह सो, इच्छा बिना ही मुक्त है ।

पूरे जगत के कार्य कोई, भी कभी नहीं कर सका ।
शीतोष्ण से, सुख दुःख से, कोई भला क्या तर सका ।
निःसंग हो निश्चिन्त हो, नाता सभी से तोड़ दे ।
करता भले रहे देह से, ममता अहंता तू छोड़ दे ।

संसारियों की दूर्दशा को, देख मन में शान्त हो ।
मत आश का हो दास तू , मत भोग सुख में भ्रान्त हो ।
निज आत्म सच्चा जानकर, भांडा जगत् का फोड़ दे ।
अपना पराया मान मत, ममता अहंता छोड़ दे ।

नश्वर असुचि यह देह तीनों, ताप से संयुक्त हो ।
आसक्त हड्डी मांस पर, होना तूझे नहीं युक्त हो ।
पावन परम निज आत्म में, मन वृत्ति अपनी जोड़ दे ।
सन्तोष समता कर ग्रहण, ममता अहंता छोड़ दे ।

है काल ऐसा कौनसा, जिसमें न कोई द्वन्द्व है ।
बचपन तरुणपन वृद्धपन, कोई नहीं निर्द्वन्द्व है ।
कर पीठ पीछे द्वन्द्व सब, मुख आत्म की दिशा मोड़ दे ।
कैवल्य निश्चय पायेगा, ममता अहंता छोड़ दे ।

योगी महर्षि साधुओं की, है घनी पगदण्डियाँ ।
कोई सिखाते सिद्धियाँ, कोई बताते रिद्धियाँ ।
ऊँचा न चढ़ नीचा न गिर, तज धूप दे तज दौड़ दे ।
सम शान्त हो जा एकरस, ममता अहंता छोड़ दे ।

सुखरूप सत्चित ब्रह्म को, जो आत्म अपना जानता ।
इन्द्रादि सूर के भोग सारे, रह यही मृषा ही मानता ।
दस सो हजारों शून्य मिथ्या, छोड़ लाख करोड़ दे ।
एक आत्म सच्चा ले पकड़, ममता अहंता छोड़ दे ।

गुण तीन पांचों भूतों का, यह विश्व सब विस्तार है ।
गुण भूत जड़ निःसार सब, तू एक द्रष्टा सार है ।
चैतन्य की कर होड़ प्यारे, त्याग जड़ की होड़ दे ।
तू शुद्ध है, तू बुद्ध है, ममता अहंता छोड़ दे ।

शुभ होय अथवा हो अशुभ, सब वासनाएं छांट दे ।
निर्मूल करके वासना, अध्यास की जड़ काट दे ।
अध्यास खुजली कोढ़ है, कोढ़ी न बन तज कोढ़ दे ।
सुख शान्ति भोला ले पकड़, ममता अहंता छोड़ दे ।

निदिध्यासन

मनोबुद्‌ध्यहंकार चित्तानि नाहं,
न च श्रोत्र जिह्वे न च घ्राण नेत्रे ।
न च व्योम भूमि न तेजो न वायुः,
चिदानन्द रूपः शिवोऽहं – शिवोऽहम् ।।

न च प्राणसंज्ञो न वै पञ्चवायूः
न वा सप्तधातु र्न वा पंचकोषः ।
न वाक् पाणि पादं न चोपस्थ पायूः
चिदानन्द रूपः शिवोऽहं – शिवोऽहम् ।।

न मे द्वेष रागौ न मे लोभ मोहौ,
मदो नैव मे नैव मात्सर्य भावः ।।
न धर्मों न चार्थो न कामो न मोक्षः,
चिदानन्द रूपः शिवोऽहं – शिवोऽहम् ।।

न पुण्यं न पापं न सौख्यं न दुःखं,
न मन्त्रो न तीर्था न वेदा न यज्ञाः ।
अहं भोजनं नैव भोज्यं न भोक्ता,
चिदानन्द रूपः शिवोऽहं – शिवोऽहं ।।

न मे मृत्यु शंका न मे जाति भेदः,
पिता नैव मे नैव माता च जन्म ।
न बन्धु र्न मित्रं गुरुर्नैव शिष्यः,
चिदानन्द रूपः शिवोऽहं – शिवोऽहम् ।।

अहं निर्विकल्पो निराकार रूपो,
विभु व्याप्त सर्वत्र सर्वेन्द्रियाणाम् ।
सदा मे समत्वं न बन्ध न मुक्तिः
चिदानन्द रूपः शिवोऽहं – शिवोऽहम् ।।

नाहं मनुष्यो न च देव यक्षो,
न ब्राह्मण्य न क्षत्री न वैश्य शुद्रः ।
नाहं ब्रह्मचारी न गृही न वनस्थो
भिक्षुर्न चाहं शिवोऽहं – शिवोऽहम् ।।

नित्य चिंतनीय

ब्रह्मरूप पहिचानो साधो

ब्रह्मरूप पहिचानो रे ।

कान ब्रह्म नहीं, शब्द ब्रह्म नहिं

कान उसे नहिं सुनता रे ।

ब्रह्म रूप तुम जानो उसको

जो कानों मे सुनता रे ।।

आँख ब्रह्म नहीं रूप ब्रह्म नहीं

आखों से नहीं दिखता रे ।

ब्रह्म रूप तुम जानो उसको

जो आँखों से देखत रे ।।

वाणी ब्रह्म नहीं मन्त्र ब्रह्म नहीं

जप करी करी हारे रे ।

वाणी जिससे प्रकाशित होय

ब्रह्म कहावत् सोय रे ।।

प्राण ब्रह्म नहीं, अपान ब्रह्म नहीं
ध्यान समाधि नहीं आय रे ।
ब्रह्म रूप तुम जानो उसको
जो प्राणों को चलाया रे ।।

मन ब्रह्म नहीं बुद्धि ब्रह्म नहीं
करत कल्पना हारे रे ।
मन बुद्धि को जो जानत है
ब्रह्म कहावत सोय रे ।।

जिस मूरत को सब जग मानत
अरु जिसे ब्रह्म बतावत रे ।
उस मूरत को ब्रह्म न जानो
केन उपनिष जनावत रे ।।

जीव भाव को बिन त्यागे से
ब्रह्म निष्ठा नहीं होय रे ।
कहे निरंजन तू ब्रह्म रूप है
छान्दोग्य बतलावे रे ।।
ब्रह्मरूप पहिचानो साधो
ब्रह्मरूप पहिचानो रे / सोऽहम् रूप पहिचानो रे ।।